डाउनलोड मुद्रण

अ+ अ-

निबंध

आधी रात : रेल की सीटी

धर्मवीर भारती

आधी रात। पता नहीं कैसे नींद उचट गई है। कमरे में घुटन महसूस होती है। जाने कैसी घुटन। ठंडी, नंगी छत पर, फैले-फैले आसमान के नीचे बेमतलब छज्जे के पास पीपल की खामोश टहनियाँ नीले आकाश के परदे पर काले छायाचित्रों की तरह खिंची हुई हैं। दूर-दूर तक कोई आहट नहीं, कोई आवाज नहीं, जिंदगी का कोई चिह्न नहीं। कुत्ते भी नहीं भूँक रहे हैं। मेरी हर पगचाप को जैसे अँधेरा निगल जाता है। एक गहरी बहुत गहरी उदासी, बेमतलब, बिना बात।

अकस्मात जैसे किसी मर्मान्तक पीड़ा से रात हृदय फाड़कर चीख उठी हो, वैसी ही एक आवाज तीर की तरह दूर से आती है, खामोशी को चीरते हुए। अँधेरा तिलमिला उठता है, जैसे घाव को रगड़ लग गई हो। वह आवाज है कहीं दूर पर गुजरती हुई ट्रेन की एक तीखी पैनी सीटी की। जाने क्यों अँतड़ियों को मरोड़ देने की ताकत इस आवाज में है। सीटी की यह आवाज आती है, फिर गूँजती है, फिर जैसे दिशा-दिशा से टकराती है, फिर चौगुनी, अठगुनी, सोलहगुनी होकर दर्द के एक विशालकाय जाल की तरह रात के अथाह समुद्र को ढँक लेती है।

जैसे आधी रात जाल फेंके जाने पर जल की सतह काँप उठती है, वैसे ही रात का फैलाव, रात की खामोशी, रात का अँधियारा काँपने लगता है। नीम और पीपल की टहनियाँ जैसे स्लेट पर खिंची लाइनों की तरह पुँछने लगती हैं, मन की आँखों के आगे टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं से एक दूसरा चित्र उभर रहा है। रेलवे स्टेशन का लंबा प्लेटफार्म, टीन से छाया हुआ। ट्रेन जा चुकी है। फेरी वाले दूसरे प्लेटफार्म पर चले गए हैं। सिर्फ एक बूढ़ा कुली कुछ असबाब उठाकर दूसरे दर्जे के वेटिंग रूम में रख रहा है। रेलवे के वेटिंगरूमों की बेंचें आराम कुर्सियों, बीच की बड़ी खूँटियाँ, इनका एक खास ढंग होता है। वैसी ही बेंचें, वैसी ही कुर्सियाँ, वैसी ही गोल मेज, वैसी ही खूँटियाँ। असबाब एक कोने में लग गया है। मैं मेज पर पैर लटकाये बैठा हूँ। वह आरामकुर्सी पर अधलेटी है। मैं चुप। मैं उसकी बंद आँखों को एकटक देख रहा हूँ। उसका सारा चेहरा सोनबरनी है पर पलकें गहरे भूरे गुलाब रंग की हैं। उसका आधा सौंदर्य उसकी पलकों का सौंदर्य है। मैं अपने जेब में पड़े प्लेटफार्म-टिकट को उलटता-पलटता हूँ। मैं पहुँचाने आया था। गाड़ी छूट गई थी। हम दोनों खीच गए थे। पर क्या वह खसीज सतही नहीं थी? कहीं गहरे उतरकर हम दोनों को संतोष था। अगली गाडद्यी के वक्त तक हम साथ रह सकेंगे।

"अब?" सहसा वह आँख खोलकर पूछती है - फिर जवाब भी खुद देती है - "अब क्या? रात को दस बजे तक फुरसत। तब तक तो कोई गाड़ी जाती नहीं। खैर, तुम्हारी मनचाही हुई। तुम्हें तो खुशी होगी। और सोचों कि घर

पर सब लोग समझ रहे होंगे कि वह ट्रेन पर चली जा रही होगी। और यहाँ आराम से पाँव फैलाये वेटिंगरूम में लेते हैं। घर कितनी दूर है? सिर्फ चार फर्लांग। मगर लगता है, हम लोग दूसरे लोक में बैठे हों, क्यों?"

मैं कोई उत्तर नहीं देता। कोई सवाल भी तो हो। यह तो उसकी आदत है। या तो बोलेगी नहीं, बोलेगी तो एक साँस में एक पूरा पैराग्राफ।

"सुनों, चलों असबाब यहीं रखकर, घर लौट चलें। पहुँचा दोगे?"

"चलों।" मैं बेमन से कहता हूँ।

"अच्छा जाने दो, फिर सब तवालत में पडेंगे। पर तुम छह घंटे करोगे क्या? घूमने जाओगे? हो आओ।"

मैं कुछ कहता नहीं। वह समझ जाती है। "नहीं जी, मैं तुम्हें जाने दूँगी? अकेले यहाँ करूँगी क्या? जाने कैसे मिले हो तुम? मैं बीस दिन से हूँ यहाँ पर। पर आज तुम्हें समय मिला है, वह भी ट्रेन न छूटती तो?"

मैं सहसा बोलने लगता हूँ। नहीं, मैं बोल रहा हूँ। पता नहीं कहीं से शब्द आ रहे हैं :

"सुनो। गाड़ी छोड़कर हम लोगों ने जंजीर तोड़ दी समय की।"

"क्यों?"

"और क्या? असल में जिंदगी के कामों का सिलसिला ही नहीं टूटता। तरतीब ही नहीं बिगड़ती। मैं हूँ कि हर क्षण बँधा हुआ हूँ। हर घड़ी भाग दौड़। यहाँ से वहाँ। तुम हो कि यहाँ थीं, यहाँ से स्टेशन, स्टेशन से ट्रेन पर, ट्रेन से दूसरे शहर, दूसरे शहर से दूसरे लोग, दूसरी जिंदगी, दूसरी तरतीब। और आज ट्रेन छूट गई। अकस्मात जैसे जिंदगी की अनिवार्यता का क्रम टूट गया। वक्त का बन्धन जैसे झटका खाकर टूट गया। लोग समझते हैं तुम ट्रेन में जा रही हो, उसके बाद घर, उसके बाद... और यह किसी को नहीं मालूम कि सहसा सिलसिला तोड़कर बीच में हम वेटिंगरूम में पड़े हुए हैं" ...वह चुपचाप मेरी ओर देख रही है। पाँव आरामकुर्सी के हत्थे पर हैं। और उसकी हथेलियों मेरे पाँव पर। "और सुनो।" मैं कहता जाता हूँ, मेरी आवाज काँप रही है: "तुम्हें ऐसा नहीं लग रहा है कि इस समय तुम समय के अनवरत प्रवाह से बिलकुल मुक्त हो, और लगता है जैसे पीछे कोई गुजरा हुआ अतीत नहीं है और आगे कोई अनिवार्य भविष्य नहीं है और सिर्फ वर्तमान है, और वह, और वह बहुत सुखद है, बहुत शांत है।" वह कुछ कहती नहीं, मेरे पाँवों पर रखी अपनी उँगलियाँ उठाकर होठों से लगा लेती है।

वेटिंगरूम के दूसरी ओर मालगाड़ी खड़ी थी जो हट गई है और पश्चिम की खिड़की से शाम की हलकी नारंगी धूप जाली पर छन-छनकर उसके रूखे बालों पर पड़ रही है।

"सुनों", सहसा वह बोल पड़ती है : "तुम जन्मांतर में विश्वास करते हो?"

"जन्मांतर में?"

"यही कि हमारा यह जन्म, यह रूप, यह अस्तित्व ही सब कुछ नहीं है। हम पहले भी थे और आगे भी रहेंगे... अच्छा सुनो, कुछ खाने को निकालूँ। भूख तो बेहद लगी होगी। अपने घर भी नहीं गए। वहाँ से सीधे स्टेशन चले

आए हो।"

"खाना? उहुँ।" मैं मना करता हूँ। चाहता हूँ कि जन्मांतर वाली बात वह फिर कहे। बड़ा संतोष होता है। हम पहले भी थे और आगे भी रहेंगे...

अकस्मात धड़-धड़ करता हुआ शण्टिन इंजन आता है और वेटिंगरूम के सामने रुक जाता है। धुआँ फेंक रहा है, ई. आई. नौ सौ... शायद सैंतीस, नंबर ठीक याद नहीं।

"वेटिंगरूम में मन ऊबने लगा। चलों, बाहर प्लेटफार्म पर ही चक्कर लगा आएँ।"

"चलो।" वह उठ खड़ी होती है।

एक खुला हुआ अंतरीप जैसा प्लेटफॉर्म रेलवे लाइनों के समुद्र में दूर तक अंदर चला गया है। बीचोंबीच लैम्पोस्ट, नल और सीमेण्ट की बेंचों की कतारें। बहुत लंबा प्लेटफॉर्म। सुनसान। हम लोग चले जा रहे हैं। चुपचाप। उसने अपने कंधों पर एक शाल डाल रखी है। कितनी बुजुर्ग लग रही है। लगता है हम लोग अंतरिक्ष चीरकर भविष्य में धँसते जा रहे... गहरे, और गहरे, और गहरे। सहसा मेरी हथेलियों में उसकी नर्म लंबी पतली उँगलियाँ उलझ जाती हैं। हम लोग हाथ पकड़ते नहीं। उँगलियाँ लताखंडो की तरह उलझी रहती हैं। एकाएक वह रुक जाती है। मैं भी रुक जाता हूँ। वह मेरी ओर देखती है। ममता, करुणा, विस्मय, अविश्वास, जाने क्या-क्या घुला-मिला है उन निगाहों में... "हम लोगों की किस्मत भी कितनी अजीब है। है न?"

"हाँ।" मैं सिर हिला देता हूँ। वह जो कुछ कहना चाहती है उसके लिए उसकी शब्दावली कितनी नाकाफी है। मगर इससे आगे कुछ नहीं कहेगी। न, एक हरफ नहीं। मैं उसे जानता हूँ।

बड़ी से बड़ी पीड़ा को झेल गई वह, पर उसने भला कभी कुछ कहा? हाथ झुलाते चल रही है। सहसा उसने मेरा हाथ पकड़ लिया है। बच्चों की तरह।

"सुनो। अगर यहाँ से हम लोग पुल पार कर कॉफी-हाउस चलें तो।"

"चलो।" मेरे उत्साह की कोई सीमा नहीं... "चलो, अभी तो पाँच घंटे हैं।"

"नहीं जी, पागल हुए हो क्या, वेटिंगरूम में चाय मँगवा लें।"

हम लोग लौट पड़ते हैं। डूबता हुआ सूरज सामने है। नीचे टेढ़े-मेढ़े उलझे हुए लोहे के साँपों जैसी पटरियाँ रेंग रही हैं जिनकी पीठ पर पिघला मूँगा बह रहा है। बीच-बीच में कुली, कामगार और राहगीर पैदल लाइनों को पार कर रहे हैं। एक बड़े से शेड में टूटे हुए इंजन मरम्मत के लिए पड़े हैं। सूरज का लाल गोला एक मालगाड़ी के पीछे डूब रहा है। 'फौजियों के नहाने की जगह,' 'हाथ धोने की मिट्टी', 'कंट्रोल रूम' ... प्लेटफार्म के बोर्ड और लिखावटें पढ़ रहा हूँ। कितना शांत हूँ मैं, कितना निश्चिंत। वह साथ साथ चल रही है और हम समय की पूर्वापर क्रमिकता का बन्धन तोड़ चुके हैं... जीवित वर्तमान और वह, जो मेरे साथ है।

वेटिंगरूम बिलकुल बदल गया है। उसमें बिजली जल रही है और पता नहीं क्यों अब उसकी वह रहस्यमयता जाती रही जो गोधूलिवेला में थी। एक नव-परिणीता वधू आकर बेंच पर बैठ गई है। दीवार की ओर मुँहाजरी की सैण्डिल,

साँवले पाँवों में मोटा महावर। हाथों में चूड़े। सहसा वह मुड़ती है। चेहरा साँवला है। पर बेहद सलोना। आँखें रोती-रोती सूज गई हैं। जब तक उसका मुँह दीवार की ओर था, कमरे का वातावरण बड़ा ही हलका और भोंडा-सा लग रहा था। उसके मुँह इधर करते ही कमरे में जैसे करुणा भर-भर उठी, विदाई के लोकगीतों की करुणा :

मोरे पिछवरवाँ लवँग, केर बिरवा, महकइ बड़े भिनसार।

मोरे पिछवरवाँ लवँग केर बिरवा, इलग बिलग गई डार?

(मेरे घर के पिछवाड़े लौंग का बिरवा... बड़े सवेरे महकता है। पिछवाड़े लौंग का बिरवा... इसकी एक डाली दूसरी डाली से बिछुड़ गई।)

अकस्मात वह आती हुई दीख पड़ती है। तेजी से जरूर रोई है।

"अच्छा चाय पी ली तुमने। सुनो। इसी शहर की लड़की है। जानते हो इम्फाल में ब्याही है। अब कभी नहीं लौटेगी।" उसका गला रुँधा है। मैं पैसे चुकाकर चल देता हूँ। जानता हूँ न उसे। यहीं चाय की स्टाल पर खड़े-खड़े आँसू टपकाने लगेगी। दुनिया भर का दर्द तो उसी के सर माथे है न? लड़की वह इम्फाल में ब्याही है। रोएँगी आप।

वह मेरा हाथ पकड़कर जैसे खींचे ले जा रही है। फिर वही खुली प्लेटफॉर्म। रात हो चुकी है। हम लोग बढ़ते जा रहे हैं।

एक बेंच आई।

"बैठोगे यहाँ?" और वह मुझे बिठा लेती है। बेंच के पास का लैम्पपोस्ट खामोश जल रहा है। अँधेरे के अथाह समुद्र में जैसे वह एक छोटा सा द्वीप है। हम दोनों को ज्वार वहाँ फेंक गया है।

वह गरदन घुमाकर चारों ओर देखती है। फिर सिर झुकाकर कहती है : "वही प्लेटफार्म तो है यह?"

"जहाँ से ...मेरी विदा हुई थी। तुम्हें क्या याद होगा। तुम तो थे ही नहीं। उस दिन भी कोई काम निकल आया था न तुम्हें, छोड़ कर चले गए थे न?"

मैं चुप।

"सुनो", वह फिर बोलती है: "तुम्हें किसी ने भी ममता नहीं दी।"

"क्यों?"

"दी होती, तो तुम भी दूसरों को देते न?" और उसके बाद दो हिचकियाँ और कंधे पर गरम-गरम आँसू की एक बड़ी-सी बूँद। मुझे होश नहीं था कि कब उसका स्वर गहरा गया था, कब उसका माथा मेरे कंधे पर आ टिका था...

"सुनो।" वह रुँधते हुए रुक-रुककर बोल रही है : "जिसे लाना उसे ममता से भर देना। अंग-अंग, पोर-पोर। कहीं भी वह रीती न रहे। ममता से छा देना उसे। न..न.. मैं जानती हूँ तुम वैसी ममता दे सकते हो। मैं कहूँ कुछ पर मैं जानती हूँ। मैं जानती हूँ। तुम्ही वैसी ममता दे सकते हो, सिर्फ तुम्हीं।"

(मैं चुप हूँ। न। आँसू मुझे आ ही नहीं सकते। पर नीचे का होठ काँप रहा है।)

"मैं जानती हूँ", वह सिसकते हुए बोल रही है : "मैं इतने दिन रहकर भी उसे देख नहीं पाई और अकस्मात मुझे जाना पड़ रहा है। वहाँ से तुम्हारे बुलाने पर आ पाऊँगी या नहीं, मैं नहीं जानती। वह दूसरी दुनिया है, दूसरे लोग हैं। पर.. मैं जानती हूँ जिसने तुम्हें जीता है वह बहुत बड़ी होगी। बहुत बड़ी। नहीं मैं जानती हूँ, मुझसे भी बड़ी। पर सुनो, उसे उतनी ही बड़ी ममता देना, ...उतनी ही बड़ी ...तुम दे सकते हो।" और अकस्मात बाँध टूट जाता है। वह फूट-फूट कर रो पड़ती है। हिचकियाँ... आसूँ...

अकस्मात दूर खड़ी मालगाड़ी में तेजी से आकर एक इंजन जुड़ता है। खड़-खड़-खड़-खड़-खड़ डिब्बे टकराते हैं। पहले से दूसरा, फिर तीसरा, चौथा, पाँचवाँ, आखिरी डिब्बा कटकर अलग हो जाता है। पीछे लाइन पर चला जा रहा है। एक मोड़, दूसरा घुमाव, तीसरा घुमाव...

खड़-खड़-खड़-खड़ ...सामने के पीपल में पक्षी पर खड़खड़ाते हैं। जैसे पानी में कंकड़ पड़ते ही छायाएँ हिलकर मिटने लगती हैं वैसे ही स्मृति-चित्र बिखर रहा है, जलरंग पुछ रहे हैं। इंद्रजाल की तरह स्टेशन लुप्त हो जाता है, मैं लौट आता हूँ वर्तमान में... आधी रात, उचटी नींद, ठंडी छत, बेमतलब टहलना,... ठंडक बढ़ गई है। सामने नीम और पीपल के मूर्च्छित छाया-चित्र।

पिछले दिसम्बर में मैं उधर से गुजरा। कुम्भ की तैयारियों ने स्टेशन का नक्शा बदल दिया था। उस प्लेटफॉर्म पर की सारी इमारत ढह गई थी। प्लेटफार्म सपाट कर दिया गया था। कोई निशान तक नहीं उस वेटिंगरूम का। बिलकुल अजनबी लगा मुझे अपना स्टेशन।

हवा चलने लगी है। पीपल के पत्ते खड़खड़ा रहे हैं। पंचमी का हँसिये जैसा चाँद कब आकर पीपल की शाखों में उलझ गया यह मुझे मालूम नहीं हुआ। नींद आने लगी है। पाँव थक गए हैं टहलते-टहलते। मैं कमरे में आ जाता हूँ। मेरे कमरे का बेड-लैम्प जल रहा है। बगल वाले तकिये पर ढेर के ढेर रेशम जैसे केशपाश बिखरे हुए हैं। रोशनी की हलकी जर्द पाँखुरियाँ उसके नींद डूबे प्रोफाइल पर जम गई हैं। ये दूसरी पलकें हैं गुलाबी नहीं। आमों की कटी फाँक की तरह लंबी, नुकीली। पतली लहरें।

वह करवट बदलती है। काजल की पतली लहरों में कम्पन होता है। लहरें टूटती हैं। वह आँखें खोल देती है... होठों पर स्नेह की, ममता का मुस्कान दौड़ जाती है। दो अर्द्धनिद्रित बाँहें उठती हैं फैली हुई, आमंत्रण भरी, जैसे कहती हैं 'दे दो। सब मुझे दे दो। मैं सहेज लूँगी। सब कुछ।' गोरोचन का बड़ा सा टीका हलके उजाले में चमक उठता है। उस एक रहस्यमय क्षण में जैसे सब उसे दे रहा हूँ। जो कुछ पाया वह भी, जो कुछ खोया है वह भी। ममता के एक गहरे क्षण में कितना प्यार, कितनी उपलब्धियाँ छिपी रहती हैं, जो हमने दूसरों से पाई हैं। हमारा अपना अंश कितना रहता है, कौन जाने?

उसके केश मेरी पलकों पर बिखर गए हैं। बाँहें फूल मालाओं की तरह कंठ में लिपटी हैं। मैं नींद में डूबता जा रहा हूँ, गहरे और गहरे रात के सन्नाटे को चीरकर एक उनींदी रेल की सीटी बोल उठती है। कोई ट्रेन छूट रही है। वहीं पहुँचेगी जहाँ के लिए छोड़ी गई है? इतना जटिल टाइमटेबल कौन बनाता है?

शीर्ष पर जाएँ